औपनिवेशिक भारत में शिक्षा का प्रसार और उसका सांस्कृतिक प्रभाव

डॉ. प्रियेश कुमार
(प्रा. भा. इ. स. एवं पुरातत्व विभाग)
तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय भागलपुर

सारांश :

"**औपनिवेशिक भारत में शिक्षा का प्रसार और उसका सांस्कृतिक प्रभाव**" विषय पर यह शोध भारत के उपनिवेशी काल के उस परिवर्तनशील दौर की पड़ताल करता है जब शिक्षा केवल ज्ञान प्राप्ति का माध्यम न रहकर राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विमर्श का उपकरण बन गई थी। ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने जब भारत में आधुनिक शिक्षा व्यवस्था लागू की, तो उसका उद्देश्य भारतीय समाज को अपने प्रशासनिक ढांचे के अनुकूल प्रशिक्षित करना था। प्रारंभ में यह शिक्षा सीमित वर्गों तक ही सिमटी रही, खासकर उच्च जातियों और संपन्न तबकों के बीच। लेकिन धीरे-धीरे यह शिक्षा जनसामान्य में भी प्रसारित हुई और इसी प्रसार ने भारतीय समाज में गहरे सांस्कृतिक परिवर्तन को जन्म दिया।

यह शोध इस बात को रेखांकित करता है कि औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली ने एक ओर भारतीय भाषाओं, परंपरागत ज्ञान और मूल्यों को पीछे धकेला, वहीं दूसरी ओर आधुनिक वैज्ञानिक सोच, आलोचनात्मक दृष्टि और राष्ट्रवादी चेतना को भी जन्म दिया। यह दोधारी प्रक्रिया थी, जिसमें भारतीय समाज ने जहां एक ओर औपनिवेशिक मानसिकता को आत्मसात किया, वहीं दूसरी ओर उसी शिक्षा ने स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं और विचारकों को प्रेरित किया। बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, रवींद्रनाथ ठाकुर, आंबेडकर जैसे अनेक नेताओं ने औपनिवेशिक शिक्षा के प्रभावों का विश्लेषण कर उसे भारतीय समाज के हित में मोड़ने की कोशिश की।

शोध का महत्व इस बात में है कि यह शिक्षा को केवल औपनिवेशिक नियंत्रण का माध्यम न मानकर उसे सांस्कृतिक संघर्ष और सामाजिक जागरण का एक मंच मानता है। यह अध्ययन दर्शाता है कि कैसे औपनिवेशिक शिक्षा के माध्यम से नवजागरण, सामाजिक सुधार आंदोलन और राष्ट्रवाद ने आकार लिया। प्रमुख निष्कर्ष यह बताते हैं कि यद्यपि औपनिवेशिक शिक्षा का आरंभिक उद्देश्य भारतीय मानस को नियंत्रण में रखना था, परंतु दीर्घकाल में यही शिक्षा भारतीय जनमानस में प्रश्न पूछने, परंपराओं की समीक्षा करने और आधुनिक मूल्यों को अपनाने की चेतना का स्रोत बनी। इस प्रकार, यह शोध औपनिवेशिक

भारत की शिक्षा प्रणाली को केवल सत्ता के उपकरण के रूप में नहीं, बल्कि सांस्कृतिक परिवर्तन और राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया के एक जटिल घटक के रूप में प्रस्तुत करता है।

मूल शब्द : औपनिवेशिक शिक्षा,सांस्कृतिक प्रभाव, उपनिवेशवाद,राष्ट्रवादी चेतना, नवजागरण, परंपरागत ज्ञान

शोध का उद्देश्य एवं परिकल्पना :

औपनिवेशिक भारत में शिक्षा का प्रसार और उसका सांस्कृतिक प्रभाव विषयक इस शोध का प्रमुख उद्देश्य यह समझना है कि ब्रिटिश शासनकाल में स्थापित शिक्षा प्रणाली ने भारतीय समाज और संस्कृति पर किस प्रकार के प्रभाव डाले। इस अध्ययन का लक्ष्य औपनिवेशिक शिक्षा के विस्तार के कारण उत्पन्न सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक बदलावों का विश्लेषण करना है। विशेष रूप से यह शोध यह परिकल्पना करता है कि ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था ने भारतीय समाज में न केवल ज्ञान प्राप्ति का साधन प्रदान किया, बल्कि यह सांस्कृतिक पुनर्रचना और सामाजिक चेतना के विकास का भी महत्वपूर्ण कारक बनी।

यह परिकल्पना भी प्रस्तुत की गई है कि औपनिवेशिक शिक्षा ने भारतीय जनमानस में दोधारी प्रभाव उत्पन्न किया—एक ओर उसने पारंपरिक संस्कृतियों और भाषाओं को कमजोर किया, वहीं दूसरी ओर आधुनिकता, विज्ञान और राष्ट्रवाद के नए विचारों को जन्म दिया। इस शोध के माध्यम से यह स्पष्ट किया जाएगा कि शिक्षा का प्रसार केवल औपनिवेशिक सत्ता के नियंत्रण का उपकरण नहीं था, बल्कि उसने स्वतंत्रता संग्राम और सामाजिक सुधार आंदोलनों को भी गति प्रदान की।

डेटाबेस एवं कार्य प्रणाली

औपनिवेशिक भारत में शिक्षा का प्रसार और उसका सांस्कृतिक प्रभाव" विषयक शोध आलेख के लिए डेटाबेस और कार्य प्रणाली को ऐतिहासिक स्रोतों, सरकारी रिपोर्टों, शैक्षिक दस्तावेज़ों, और समकालीन विचारकों की रचनाओं के माध्यम से निर्मित किया गया है। इस शोध में प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों का समन्वित उपयोग किया गया है, जिनमें वुड्स डिस्पैच (1854), हंटर आयोग (1882), सैडलर आयोग (1917), तथा विभिन्न भारतीय शिक्षाविदों और समाज सुधारकों की टिप्पणियाँ प्रमुख हैं। साथ ही, ब्रिटिश शैक्षिक नीतियों के प्रभावों को समझने के लिए अंग्रेज़ी शिक्षा अधिनियम, मिशनरी रिपोर्टों, और औपनिवेशिक जनगणना आंकड़ों का विश्लेषण किया गया है।

कार्य प्रणाली के तहत ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक पद्धति अपनाई गई है, जिसमें घटनाओं और नीतियों की ऐतिहासिक संदर्भ में व्याख्या करते हुए उनके सामाजिक और सांस्कृतिक परिणामों को उजागर किया गया है। तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह भी विश्लेषण किया गया है कि किस प्रकार पारंपरिक भारतीय शिक्षा पद्धतियों की तुलना में औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली ने समाज में नई चेतना और संरचनात्मक बदलाव लाए।

साहित्य समीक्षा

औपनिवेशिक भारत में शिक्षा पर अनेक विद्वानों ने गहन अध्ययन किए हैं, जिनमें ब्रिटिश नीतियों, उनके उद्देश्यों और भारतीय समाज पर पड़े प्रभावों का विश्लेषण प्रमुख रहा है। टॉमस बॅबिंगटन मैकॉले की 'मिनट ऑन एजुकेशन' (1835) को अक्सर उस परिवर्तन का प्रारंभिक बिंदु माना जाता है, जहां से भारतीय शिक्षा का पश्चिमीकरण आरंभ हुआ। गेराल्डिन फोर्ब्स, रणजीत गुहा, पार्थ चटर्जी और गोविंद सिंह जैसे इतिहासकारों ने शिक्षा को उपनिवेशवाद के एक राजनीतिक उपकरण के रूप में देखा है, जो सांस्कृतिक आधिपत्य (cultural hegemony) को मजबूत करने हेतु प्रयुक्त हुआ।

पूर्व शोधों से यह भी स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली ने सामाजिक पदानुक्रम को बनाए रखते हुए एक विशेष वर्ग को अंग्रेज़ी शिक्षा द्वारा सशक्त किया, जिससे एक 'ब्राउन साहब' वर्ग का निर्माण हुआ। हालांकि कई शोधों ने यह भी दर्शाया है कि यही शिक्षा भारत में नवजागरण, सुधार आंदोलनों और राष्ट्रवाद की चेतना का स्रोत भी बनी। जैसे कि आशीष नंदी और डी.आर. नर्गुंडकर ने अपनी कृतियों में इंगित किया है कि शिक्षा केवल यूरोपीय प्रभाव को थोपने का माध्यम नहीं रही, बल्कि भारतीयों ने इसे रचनात्मक ढंग से आत्मसात कर बदले हुए सामाजिक संदर्भों में पुनः परिभाषित भी किया। हालांकि इन अध्ययनों ने शिक्षा के प्रसार या नीतिगत विश्लेषण पर पर्याप्त ध्यान दिया है, परंतु शिक्षा के सांस्कृतिक प्रभावों – जैसे भाषाई बदलाव, सांस्कृतिक स्वाभिमान का ह्रास या नवचेतना का उद्भव – पर तुलनात्मक और व्यापक अध्ययन अपेक्षित है। ग्रामीण बनाम शहरी क्षेत्रों में शिक्षा के प्रभाव, स्त्रियों और निम्नवर्गीय समुदायों के अनुभव, तथा स्थानीय परंपराओं पर पड़े प्रभावों की गहराई से जांच अब तक सीमित रही है। यह शोध इन उपेक्षित पहलुओं को उजागर करने का प्रयास करता है। यह न केवल औपनिवेशिक शिक्षा की नीतियों को विश्लेषित करता है, बल्कि उसके सांस्कृतिक दायरे में आए परिवर्तन–भाषा, जाति, लिंग और ज्ञान की धारणा–को भी समझने की चेष्टा करता है। वर्तमान शोध इस दृष्टिकोण से प्रासंगिक है कि यह शिक्षा को केवल औपनिवेशिक नियंत्रण नहीं, बल्कि एक सामाजिक-सांस्कृतिक संघर्ष और नवनिर्माण की प्रक्रिया के रूप में देखता है।

प्रस्तावना :

औपनिवेशिक भारत में शिक्षा का प्रसार और उसका सांस्कृतिक प्रभाव एक ऐसा विषय है, जो भारतीय समाज की ऐतिहासिक यात्रा में न केवल बौद्धिक परिवर्तन को रेखांकित करता है, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्संरचना और सामाजिक चेतना के निर्माण की प्रक्रिया को भी उजागर करता है। जब ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता ने भारत पर नियंत्रण स्थापित किया, तब उसकी प्राथमिक चिंता प्रशासनिक सुविधा और राजनीतिक नियंत्रण थी। इसी उद्देश्य से उन्होंने शिक्षा प्रणाली को अपने औपनिवेशिक हितों के अनुरूप ढालना शुरू किया। टॉमस बॅबिंगटन मैकॉले की 1835 की प्रसिद्ध 'मिनट' इस प्रक्रिया की औपचारिक शुरुआत थी, जिसमें भारतीयों को "अंग्रेज़ी सोचने वाला वर्ग" बनाने की बात कही गई थी। इस पृष्ठभूमि में यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश शिक्षा नीति केवल ज्ञान के प्रसार का माध्यम नहीं थी, बल्कि सांस्कृतिक उपनिवेशीकरण का

भी एक सशक्त उपकरण थी। पारंपरिक भारतीय शिक्षा व्यवस्था, जिसमें गुरुकुल, मदरसे, पाठशालाएं और मौखिक परंपराएं शामिल थीं, धीरे-धीरे हाशिए पर चली गईं। इसके स्थान पर ऐसी शिक्षा पद्धति आई, जो अंग्रेज़ी भाषा, यूरोपीय इतिहास, ईसाई नैतिकता और पाश्चात्य जीवन-मूल्यों को केंद्र में रखती थी। इस परिवर्तन का सीधा प्रभाव भारतीय समाज की सांस्कृतिक आत्मछवि, भाषायी चेतना और सामाजिक संरचना पर पड़ा। समस्या यह है कि औपनिवेशिक शिक्षा ने एक ओर भारतीय भाषाओं, परंपराओं और ज्ञान प्रणालियों को हीन बताया, वहीं दूसरी ओर उसने आधुनिकता, वैज्ञानिकता और राष्ट्रवाद की चेतना का भी प्रसार किया। यह विरोधाभास आज भी भारत की शिक्षा और संस्कृति में दिखाई देता है—जहां एक ओर हम आधुनिक तकनीक और वैश्विक दृष्टिकोण को अपनाते हैं, वहीं दूसरी ओर अपनी भाषाओं, परंपराओं और सांस्कृतिक जड़ों से संघर्ष करते प्रतीत होते हैं। अतः इस ऐतिहासिक प्रक्रिया का विश्लेषण करना आवश्यक है कि शिक्षा के इस प्रसार ने किन-किन स्तरों पर भारतीय समाज को प्रभावित किया और किस प्रकार यह शिक्षा औपनिवेशिक नियंत्रण से निकलकर सामाजिक परिवर्तन और स्वाधीनता संग्राम का एक प्रभावशाली उपकरण बनी।

इस अध्ययन की आवश्यकता इसलिए भी है कि आज जब भारत नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की बात कर रहा है, तब औपनिवेशिक अतीत से सबक लेना अनिवार्य हो जाता है। यह शोध हमें यह समझने में सहायता करेगा कि शिक्षा केवल औपचारिक पाठ्यक्रम नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक निर्माण और पुनर्निर्माण की प्रक्रिया भी है।

ब्रिटिश शिक्षा नीति का उद्देश्य: ज्ञान प्रसार या उपनिवेशवाद का औजार?

जब 1835 में लॉर्ड मैकॉले ने अपना प्रसिद्ध 'Minute on Indian Education' प्रस्तुत किया था, तब उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा को भारतीय समाज में लागू करने की जो दलीलें दीं, वे एक सुनियोजित सांस्कृतिक परियोजना का हिस्सा थीं। इसे मात्र शिक्षा सुधार के रूप में देखना इतिहास की सबसे बड़ी भूल होगी। [1] यह कदम वस्तुतः उपनिवेशवाद की सबसे सूक्ष्म परंतु सबसे प्रभावी चाल थी—जिसका उद्देश्य था एक ऐसा वर्ग तैयार करना जो "रंग में भारतीय पर विचारों में अंग्रेज़ हो" और जो औपनिवेशिक सत्ता के लिए एक मध्यवर्ती पुल का कार्य करे। मैकॉले की शिक्षा नीति का सार यह था कि भारतीय भाषाओं को तुच्छ और ज्ञानहीन घोषित कर अंग्रेज़ी भाषा को ज्ञान, प्रगति और सभ्यता का पर्याय बना दिया जाए। शिक्षा के नाम पर यह सांस्कृतिक उपनिवेशीकरण (Cultural Hegemony) का आरंभ था, जिसमें भारतीय मानस को धीरे-धीरे यह यकीन दिलाया गया कि उसकी अपनी परंपरा, साहित्य, विज्ञान और जीवन दृष्टि पिछड़ी, अंधविश्वासी और असभ्य है। परिणामस्वरूप भारतीय समाज की आत्मगौरव की भावना छिन्न-भिन्न हो गई, और एक ऐसी पीढ़ी तैयार हुई जिसे अपनी जड़ों पर शर्म और औपनिवेशिक मूल्यों पर गर्व होने लगा। ब्रिटिश शिक्षा नीति की इस चालाकी को समझना इसलिए जरूरी है क्योंकि यह केवल स्कूलों और पाठ्यक्रमों तक सीमित नहीं थी। यह एक वैचारिक औजार था, जिससे भारतीयों की चेतना पर कब्ज़ा किया गया। यह नीति अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य विचारों के माध्यम से भारतीयों को अपने ही देश में मानसिक रूप से पराधीन बनाने की रणनीति थी।[2] इस मानसिक अधीनता का ही परिणाम था कि स्वाधीनता संग्राम की शुरुआत में भी

अनेक भारतीय नेता और बुद्धिजीवी अंग्रेजी तर्कों, न्याय प्रणाली और प्रशासनिक ढांचे को ही अंतिम सत्य मानते रहे।

हालांकि, इसी शिक्षा प्रणाली ने बाद में अनेक विरोधाभासों को जन्म दिया। अंग्रेज़ों की ही दी हुई शिक्षा ने विवेकानंद, गांधी, तिलक, नेहरू और आंबेडकर जैसे नेताओं को उत्पन्न किया, जिन्होंने उस औपनिवेशिक संरचना को चुनौती दी। परंतु यह भी सच है कि यह चेतना तब आई जब शिक्षा का उद्देश्य औपनिवेशिक सत्ता से स्वतंत्र होकर समाज के आत्मनिर्माण की ओर मुड़ने लगा। आज जब हम भारतीय शिक्षा प्रणाली के पुनर्गठन की बात कर रहे हैं, तब यह समझना आवश्यक है कि अंग्रेज़ों द्वारा दी गई शिक्षा ज्ञान नहीं, बल्कि अधीनता का उपकरण थी। अब समय है कि हम उस मानसिक संरचना को भी प्रश्नांकित करें जो मैकॉले की छाया में आज भी जीवित है—और एक ऐसी शिक्षा नीति गढ़ें जो ज्ञान को आज़ादी और स्वाभिमान से जोड़ सके, न कि गुलामी और आत्मविस्मृति से।[3]

पारंपरिक शिक्षा पद्धतियों का विघटन और गुरुकुल व्यवस्था पर प्रभाव

औपनिवेशिक भारत में जब शिक्षा के नाम पर सुधारों की आड़ में सत्ता का खेल खेला जा रहा था, तब सबसे गहरी चोट उस आत्मनिर्भर और सुदृढ़ पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था पर पड़ी, जिसने सदियों तक भारत की सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक चेतना को पोषित किया था। गुरुकुल, मदरसे और टोल जैसी संस्थाएँ न केवल ज्ञान के केंद्र थे, बल्कि वे स्थानीय सामाजिक संरचना के साथ गहराई से जुड़ी हुई थीं। ये संस्थाएँ जाति, वर्ग और भाषा की विविधता के भीतर शिक्षा का समावेशी मॉडल प्रस्तुत करती थीं, जहाँ नैतिकता, आचार, धर्म, काव्य, गणित और विज्ञान एक साथ पढ़ाया जाता था। लेकिन जब ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता ने शिक्षा व्यवस्था में हस्तक्षेप किया, तो उन्होंने इस देशज ज्ञान प्रणाली को या तो असंगत बताया या जानबूझकर उपेक्षित किया। वुड्स डिस्पैच (1854) और उसके बाद के आयोगों ने अंग्रेज़ी शिक्षा को प्राथमिकता दी और पारंपरिक संस्थाओं को निधि व संरक्षण से वंचित कर दिया। इसके परिणामस्वरूप गुरुकुल और मदरसों की स्वायत्तता धीरे-धीरे खत्म होती गई।[4] शैक्षिक निर्णय अब स्थानीय नहीं रहे, बल्कि एक औपनिवेशिक प्रशासन द्वारा नियंत्रित होने लगे, जिसका मूल उद्देश्य था एक ऐसा वर्ग तैयार करना जो ब्रिटिश शासन के हितों की सेवा कर सके। गंभीर बात यह है कि इस प्रक्रिया में भारतीय समाज के भीतर मौजूद विविध और सजीव ज्ञान परंपराओं को 'पिछड़ा', 'अवैज्ञानिक' और 'अप्रासंगिक' बताकर हाशिए पर डाल दिया गया। गुरुकुलों में दिया जाने वाला शिक्षा संस्कार और आचरण पर केंद्रित होता था, जबकि ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली परीक्षा, रैंक और नौकरी पर आधारित थी। इससे शिक्षा का उद्देश्य आत्मविकास से हटकर उपभोग और सत्ता की सेवा बन गया। टोलों और मदरसों की दुर्गति भी इसी सोच का परिणाम थी। मुस्लिम शिक्षा संस्थाएँ, जो कभी गणित, खगोलशास्त्र और चिकित्सा विज्ञान में अग्रणी थीं, अचानक धार्मिक कट्टरता का पर्याय बना दी गईं। इसी तरह संस्कृत टोलों को भी 'बेमतलब' और 'पुरातन' करार देकर उनके आर्थिक स्रोत छीन लिए गए। शिक्षा अब न तो समुदाय का सामूहिक उपक्रम रही, न ही उसका सांस्कृतिक विस्तार, बल्कि एक शासक की दी हुई 'दया' बन गई। यह विघटन केवल संस्थागत नहीं था, यह एक सांस्कृतिक और बौद्धिक पराजय भी थी।[5] भारत की पारंपरिक शिक्षा प्रणाली, जो शताब्दियों से स्वदेशी

ज्ञान, भाषाओं और जीवन मूल्यों को जीवित रखे हुए थी, औपनिवेशिक हस्तक्षेप के सामने असहाय सिद्ध हुई। इसके साथ ही हमारी शैक्षिक स्वायत्तता, जो कभी भारतीय समाज की रीढ़ थी, एक विदेशी सोच के अधीन हो गई।

आज जब भारत में नई शिक्षा नीति पर बहस हो रही है, तब यह जरूरी है कि हम अपने अतीत के उस अध्याय को पुनः पढ़ें, जिसमें शिक्षा केवल एक नौकरी पाने का साधन नहीं, बल्कि आत्मबोध, संस्कृति और समाज निर्माण का माध्यम हुआ करती थी। औपनिवेशिक काल की यह विरासत केवल पाठ्यक्रम नहीं बदलती, बल्कि सोच, आत्मगौरव और दृष्टि को भी प्रभावित करती है। इस ऐतिहासिक अन्याय की पुनर्समीक्षा अब समय की मांग है।

मिशनरियों की भूमिका और धार्मिक-शैक्षिक अंतर्विरोध

औपनिवेशिक भारत में जब ब्रिटिश सत्ता अपने प्रशासनिक ढांचे को मजबूत कर रही थी, उसी समय ईसाई मिशनरियों ने शिक्षा को एक और उद्देश्य से साधा – वह था धर्मांतरण। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मिशनरियों ने शिक्षा को सामाजिक कल्याण की आड़ में एक वैचारिक और धार्मिक हस्तक्षेप का माध्यम बना लिया। अंग्रेजी शिक्षा का विस्तार जहां एक ओर प्रशासनिक ज़रूरत थी, वहीं दूसरी ओर मिशनरियों के लिए यह ईसाईकरण का सबसे प्रभावी औजार बना। मिशनरी स्कूलों की खासियत यह थी कि वे भारत के उस तबके तक पहुंचे, जिसे पारंपरिक हिंदू समाज ने लंबे समय तक शिक्षा से वंचित रखा – दलित, आदिवासी और महिलाएं। इन वंचित वर्गों के लिए मिशनरी विद्यालय एक दरवाज़ा था, जिससे वे शिक्षा, गरिमा और आत्मसम्मान की ओर बढ़ सकते थे।[6] लेकिन इस दरवाज़े के पीछे जो शर्तें थीं, वे सिर्फ शैक्षणिक नहीं, बल्कि धार्मिक भी थीं। अनेक मामलों में यह देखा गया कि शिक्षा प्राप्त करने के लिए या तो धर्मांतरण आवश्यक हो जाता था, या फिर सांस्कृतिक मूल्यों का त्याग करना पड़ता था। यह द्वंद्व बहुत गहरा और जटिल है। एक ओर मिशनरी स्कूलों ने पहली बार दलित और आदिवासी बच्चों को किताबों से जोड़ा, उन्हें सार्वजनिक जीवन में स्थान दिलाने की शुरुआत की। वहीं दूसरी ओर इस 'सेवा' के पीछे एक वैचारिक परियोजना भी काम कर रही थी – भारतीय समाज की धार्मिक और सांस्कृतिक जड़ों को कमजोर करना और ईसाई मत को श्रेष्ठता के रूप में प्रस्तुत करना। मिशनरी साहित्य में अक्सर यह चित्रण मिलता है कि 'भारतीय धर्म अंधकार है और ईसाई धर्म प्रकाश'। इस सोच के साथ जब शिक्षा दी जाती है, तो वह केवल ज्ञान नहीं देती, बल्कि आत्मगौरव को भी निगल जाती है। स्त्रियों के संदर्भ में मिशनरी शिक्षा का प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे पहले संस्थान थे जिन्होंने लड़कियों को संगठित शिक्षा देना शुरू किया। इससे सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया आरंभ हुई, लेकिन इसके साथ ही भारतीय स्त्री के धार्मिक, सांस्कृतिक और पारिवारिक परिवेश को बदलने की भी कोशिशें हुईं। यह बदलाव एक 'मुक्ति' के रूप में प्रस्तुत किया गया, किंतु वह मुक्ति किस वैचारिक ढांचे में हो रही थी – यह प्रश्न अनदेखा रह गया।[7] इस पूरे विमर्श में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि मिशनरियों ने शिक्षा को एक धार्मिक औजार के रूप में इस्तेमाल किया। और यही वह बिंदु है, जहां शिक्षा और सामाजिक न्याय के उद्देश्य टकराने लगते हैं। यदि शिक्षा का उद्देश्य वंचितों को गरिमा देना है, तो उसे उनकी सांस्कृतिक अस्मिता को नष्ट किए बिना देना

चाहिए। लेकिन मिशनरी मॉडल में अक्सर यह देखा गया कि वह गरिमा किसी एक धर्म और संस्कृति के अंतर्गत ही संभव मानी गई।

आज के भारत में जब हम सामाजिक न्याय और समावेशी शिक्षा की बात करते हैं, तब यह जरूरी है कि हम इतिहास की इस विरासत की आलोचनात्मक पुनर्समीक्षा करें। मिशनरी शिक्षा ने जो अवसर दिए, उन्हें स्वीकार किया जाना चाहिए, लेकिन उनके पीछे छिपे वैचारिक एजेंडे को भी समझना और चुनौती देना उतना ही आवश्यक है। क्योंकि शिक्षा यदि मुक्त करती है, तो वह हर धर्म, हर जाति और हर संस्कृति की गरिमा को बराबरी से स्वीकार कर ही ऐसा कर सकती है – अन्यथा वह भी एक और प्रकार की गुलामी बन जाती है।[8]

शिक्षा के माध्यम से सामाजिक संरचना में परिवर्तन और नवजागरण की शुरुआत

औपनिवेशिक भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा एक ओर जहाँ सत्ता का औजार थी, वहीं दूसरी ओर उसी शिक्षा की छाया में भारतीय समाज के भीतर नवचेतना की एक नई रोशनी फूटी। यह विरोधाभास ब्रिटिश काल की सबसे दिलचस्प ऐतिहासिक परिणतियों में से एक है। सत्ता द्वारा थोपे गए शैक्षिक ढांचे ने ही उन लोगों को वैचारिक ताक़त दी जिन्होंने सामाजिक असमानता, जातीय बंधनों और धार्मिक रूढ़ियों को चुनौती दी। यह कहना गलत नहीं होगा कि आधुनिक शिक्षा ने भारतीय समाज में आत्मचिंतन की लहर पैदा की। राजा राममोहन राय, जो पश्चिमी शिक्षा से परिचित पहले भारतीयों में थे, ने सती प्रथा, बाल विवाह और धार्मिक अंधविश्वासों पर खुलकर प्रहार किया। उन्होंने वेदों और उपनिषदों की व्याख्या आधुनिक दृष्टिकोण से की और ब्रह्म समाज की स्थापना कर एक वैकल्पिक धार्मिक चेतना का मार्ग प्रशस्त किया।[9] वे अगर संस्कृत टोलों की पारंपरिक शिक्षा में उलझे रहते, तो शायद इतनी दूर तक न पहुंच पाते। उसी तरह ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने बंगाल में विधवा पुनर्विवाह और महिला शिक्षा को लेकर जो क्रांतिकारी पहल की, उसका आधार भी वही आधुनिक शिक्षा थी जिसे औपनिवेशिक सत्ता ने लाया था—पर जिसे इन सुधारकों ने अपने ढंग से पुनर्परिभाषित किया। उनका काम केवल शिक्षण संस्थान खोलना नहीं था, बल्कि समाज की गहराई में जाकर जड़ता और रूढ़ियों को तोड़ना था। वे उस 'विद्या' के वाहक बने जो मुक्ति का मार्ग खोलती है, न कि दासता का। ज्योतिबा फुले ने तो औपनिवेशिक शिक्षा का उपयोग ही ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के खिलाफ किया। वे पहले भारतीय थे जिन्होंने शिक्षा को शूद्रों, महिलाओं और दलितों के अधिकार के रूप में देखा और उसे प्राप्त करने के लिए आंदोलन खड़ा किया। सत्यशोधक समाज की स्थापना और बालिकाओं के लिए स्कूल खोलना उस समय एक बगावत जैसा था। फुले के लेखन और भाषणों से यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक शिक्षा ने उन्हें सोचने, तर्क करने और प्रतिकार करने का औजार दिया। यही शिक्षा बाद में डॉ. आंबेडकर जैसे क्रांतिकारी विचारकों की नींव बनी।[10] इस सामाजिक पुनर्जागरण को बल मिला प्रिंटिंग प्रेस और पुस्तकों से, जो अंग्रेज़ी शासन के साथ भारत में आए। पहले जहां ज्ञान मौखिक या सीमित पांडुलिपियों तक सीमित था, वहीं अब समाचार पत्र, पत्रिकाएं और किताबें विचारों को जन-जन तक पहुंचाने लगीं। बंगाल से महाराष्ट्र तक और मद्रास से लाहौर तक—प्रेस ने समाज को एक संवाद मंच दिया, जिससे विचारों का आदान-प्रदान हुआ और नवचेतना का जन्म हुआ। यह सच है कि इन सबका मूल स्रोत वही औपनिवेशिक शिक्षा थी, जिसे सत्ता

ने नियंत्रण के लिए लाया था। परंतु इतिहास की यही खूबी है कि वह हमेशा सत्ता की मंशा के अनुसार नहीं चलता। जिस शिक्षा से ब्रिटिश चाहते थे एक वफादार वर्ग तैयार करना, उसी शिक्षा से एक सवाल पूछने वाला, विद्रोही और परिवर्तनकारी समाज भी उभर आया।

इसलिए यह मानना जरूरी है कि औपनिवेशिक शिक्षा सिर्फ दमन का उपकरण नहीं थी—वह एक ऐसा द्वंद्वात्मक मंच थी, जहाँ से भारतीय नवजागरण की शुरुआत हुई। यह शिक्षा एक ही समय में गुलामी का जाल और मुक्ति का रास्ता दोनों थी—निर्भर इस बात पर करता है कि उसे कौन, कैसे और किस उद्देश्य से अपनाता है। आज जब हम शिक्षा को केवल प्रतियोगी परीक्षाओं और नौकरियों के संदर्भ में देखते हैं, तब इतिहास हमें याद दिलाता है कि यही शिक्षा कभी सामाजिक न्याय, बराबरी और आत्मबोध की जननी रही है। सवाल आज भी वही है: क्या हम शिक्षा से सिर्फ रोज़गार लेंगे या समाज बदलने की ताक़त भी पैदा करेंगे?

औपनिवेशिक शिक्षा का दीर्घकालिक सांस्कृतिक प्रभाव और स्वतंत्रता के बाद की विरासत

औपनिवेशिक भारत की शिक्षा नीति केवल पाठ्यक्रम का बदलाव नहीं थी—वह एक गहरी वैचारिक परियोजना थी, जिसने भारतीय मानसिकता, भाषा और सांस्कृतिक दृष्टिकोण को जड़ से हिला दिया। स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी हम जिन सवालों से जूझ रहे हैं—शिक्षा का उद्देश्य, भाषा की प्राथमिकता, भारतीयता की परिभाषा—उनकी जड़ें उसी औपनिवेशिक विरासत में हैं, जिसे अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था ने हमारे भीतर रोप दिया था। मैकॉले की 'Minute on Indian Education' आज भी केवल एक ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं, बल्कि एक जीवित छाया है।[11] अंग्रेज़ी भाषा की प्रभुता केवल प्रशासनिक सुविधा नहीं रही, बल्कि एक मानसिक औपनिवेशिकता का रूप ले चुकी है। अंग्रेज़ी में बोलने वाले को 'सक्षम' और भारतीय भाषाओं में सोचने वाले को 'कमतर' मानने का रवैया एक सांस्कृतिक हीनभावना को जन्म देता रहा है, जो आज भी शिक्षा से लेकर नौकरी तक के क्षेत्र में देखा जा सकता है। इस प्रभुता ने हमारी सोच को 'पश्चिमी मानकों' के अनुरूप ढालने का काम किया। औपनिवेशिक शिक्षा ने न केवल भाषा बदली, बल्कि सोच की दिशा भी। भारतीय इतिहास, संस्कृति और समाज को देखने का दृष्टिकोण भी वही बना, जो उपनिवेशवादियों ने गढ़ा। फलस्वरूप, आत्मगौरव की जगह आत्मसंदेह पनपता गया। यही कारण है कि स्वतंत्रता के बाद जब शिक्षा नीति पर विचार हुआ, तो यह केवल संस्थानों का निर्माण नहीं था, बल्कि मानसिक स्वतंत्रता की भी माँग थी। स्वदेशी शिक्षा आंदोलन इसी मांग का परिणाम था। रवींद्रनाथ ठाकुर का शांति निकेतन हो या महात्मा गांधी की 'नई तालीम', यह सभी प्रयोग इस बात के प्रतीक थे कि शिक्षा केवल अंग्रेज़ी में, विदेशी ढांचे में और उपभोक्तावादी सोच के साथ नहीं चल सकती। गांधी ने बुनियादी शिक्षा को श्रम, आत्मनिर्भरता और मातृभाषा से जोड़ा—जो औपनिवेशिक मॉडल के बिल्कुल विपरीत था। परंतु दुखद यह है कि स्वतंत्रता के बाद इन वैकल्पिक शिक्षा विचारों को केवल प्रतीकात्मक स्तर पर स्वीकार किया गया, जबकि व्यवहार में अंग्रेजी शिक्षा मॉडल ही संस्थानों और नीतियों पर हावी रहा। औपनिवेशिक शिक्षा की सबसे बड़ी दीर्घकालिक छाया यह रही कि हम अपनी भाषाओं, ज्ञान परंपराओं और स्थानीय संदर्भों को 'कमतर'

मानने लगे। विश्वविद्यालयों में आज भी भारतीय चिंतन, साहित्य या दर्शन हाशिए पर है, और विदेशी सिद्धांतों को 'वैध' ज्ञान मान लिया गया है।[12]

अब समय आ गया है कि हम इस विरासत की पुनर्परिभाषा करें। अंग्रेजी भाषा को नकारने की जरूरत नहीं, लेकिन अपनी भाषाओं, परंपराओं और वैचारिक विरासत को पुनर्स्थापित करना समय की मांग है। जब तक हम शिक्षा को अपनी ज़मीन से नहीं जोड़ेंगे, तब तक वह केवल डिग्री देगी—दिशा नहीं। और शिक्षा जो दिशा न दे, वह सिर्फ स्मृति है—स्मृति जो हमें परायी सोच में उलझाए रखती है। यही सबसे बड़ा उपनिवेश होता है—मन का उपनिवेश।

निष्कर्ष :

औपनिवेशिक भारत में शिक्षा का आगमन प्रशासनिक आवश्यकता के रूप में हुआ था, लेकिन उसकी सांस्कृतिक छाया ने पूरे भारतीय समाज की चेतना को दशकों तक प्रभावित किया। अंग्रेज़ी भाषा को आधुनिकता का पर्याय बनाकर प्रस्तुत किया गया, और भारतीय भाषाओं व ज्ञान परंपराओं को पिछड़ेपन की निशानी। इस प्रक्रिया ने जहाँ एक ओर समाज में नई सोच, आत्मचिंतन और कुछ हद तक जागरूकता को जन्म दिया, वहीं दूसरी ओर एक गहरी मानसिक गुलामी भी पैदा की, जो आज तक हमें मथ रही है। इस शोध का सबसे बड़ा निष्कर्ष यह है कि औपनिवेशिक शिक्षा न तो पूरी तरह नकारात्मक थी और न ही पूर्णतः उद्धारक। यह एक द्वैध प्रक्रिया थी—जिसने सामाजिक सुधारकों को जन्म दिया, महिलाओं, दलितों और वंचितों को पहली बार शिक्षा के अवसर दिए, लेकिन साथ ही भारतीय संस्कृति को परकीय दृष्टिकोण से देखने की आदत भी डाली। अंग्रेजी माध्यम के प्रति जो आकर्षण तब शुरू हुआ, वह आज सरकारी से लेकर निजी शिक्षा नीति तक में निर्णायक भूमिका निभा रहा है। यह शोध यह भी उजागर करता है कि भारतीय समाज ने औपनिवेशिक शिक्षा को यांत्रिक रूप से स्वीकार तो किया, परंतु वैचारिक स्तर पर उसका पर्याप्त प्रतिरोध नहीं कर पाया। रवींद्रनाथ ठाकुर, गांधी, विवेकानंद जैसे चिंतकों ने शिक्षा के स्वदेशी मॉडल की पैरवी की, परंतु उनकी आवाज़ें नीतिगत संरचनाओं में समाहित नहीं हो सकीं। स्वतंत्रता के बाद भी हम उन्हीं शैक्षिक ढाँचों में जीते रहे, जो उपनिवेश की सोच पर आधारित थे।

हालाँकि इस शोध की कुछ सीमाएँ भी रही हैं। ऐतिहासिक दस्तावेज़ों और उपलब्ध साहित्य पर आधारित यह अध्ययन शिक्षा की जमीनी सच्चाइयों को पूरी तरह समाहित नहीं कर सका। ग्रामीण इलाकों, आदिवासी क्षेत्रों और अल्पसंख्यक समुदायों पर औपनिवेशिक शिक्षा के प्रभाव को अधिक गहराई से समझने के लिए विस्तृत क्षेत्रीय अध्ययन की आवश्यकता है। साथ ही, आज के डिजिटल युग में वैश्वीकरण और तकनीक के साथ औपनिवेशिक मानसिकता कैसे पुनः उभर रही है, इस पर विशेष अनुसंधान की ज़रूरत है। फिर भी इस शोध से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा केवल पाठ्यक्रम या भाषा का मसला नहीं है, वह समाज की आत्मा को गढ़ने का औजार है। भविष्य की संभावनाएँ तभी साकार होंगी जब शिक्षा नीति केवल रोजगार पर केंद्रित न होकर सांस्कृतिक पुनर्जागरण की दृष्टि से भी पुनर्रचित हो। स्थानीय भाषाओं, परंपरागत ज्ञान और सामाजिक समावेशन को आधुनिकता के साथ जोड़ना ही वह रास्ता है, जो हमें

औपनिवेशिक छाया से निकाल कर एक स्वाभाविक और आत्मनिर्भर शैक्षिक चेतना की ओर ले जा सकता है। अब समय है कि हम शिक्षा के औपनिवेशिक ढाँचे को केवल आलोचना की दृष्टि से नहीं, बल्कि पुनर्निर्माण की दृष्टि से देखें–जहाँ अतीत की परछाइयों से निकलकर भविष्य की रौशनी बुनी जाए। यही शिक्षा की सच्ची आज़ादी होगी।

संदर्भ सूची :

1. गोविंद, नीलम. *भारतीय शिक्षा का इतिहास.* नई दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी, 2012, पृ. 122
2. सिंह, यशपाल. *औपनिवेशिक भारत में शिक्षा नीति.* दिल्ली: भारतीय विद्या संस्थान, 2008, पृ. 89
3. वही
4. Basu, Aparna. *The Growth of Education and Political Development in India, 1898–1920*. Delhi: Oxford University Press, 1974, pp. 121
5. जोशी, विजयकुमार. *भारतीय शिक्षा व्यवस्था का इतिहास.* मुंबई: लोकभारती, 2011, पृ. 98
6. पांडेय, राजेन्द्र. *सांस्कृतिक उपनिवेशवाद और शिक्षा.* भोपाल: संवाद प्रकाशन, 2013, पृ. 67
7. वही
8. शर्मा, एस.सी. *मैकॉले की शिक्षा नीति का विश्लेषण.* आगरा: रत्ना प्रकाशन, 2006, पृ. 31
9. Viswanathan, Gauri. *Masks of Conquest: Literary Study and British Rule in India*. Delhi: Oxford University Press, 1998, pp. 44–69.
10. मिश्र, अंजलि. *ब्रिटिश शिक्षा नीति और भारतीय समाज.* पटना: प्रभात प्रकाशन, 2014, पृ. 101
11. वर्मा, दिनेशचंद्र. *आधुनिक भारत में शिक्षा और समाज सुधार.* कानपुर: जागरण पब्लिशर्स, 2009, पृ. 77
12. Nurullah, S., & Naik, J.P. *A History of Education in India (During the British Period)*. Bombay: Macmillan, 1951, pp. 115–140.